Vaidika vyākhyāna mālā

वैदिक व्याख्यान माला - प्रथम व्याख्यान

ब्रह्मर्षि मधुच्छन्दाने किया हुआ

अग्नि देवतामें

आदर्श पुरुषका दर्शन

Vol. I

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

ॐ

ब्रह्मर्षि मधुच्छन्दाने किया हुआ

अग्नि देवतामें आदर्श पुरुषका दर्शन

आज हम ऋग्वेदके प्रथम अग्नि सूक्तका मनन करना चाहते हैं। इस सूक्तका प्रथम मंत्र इस तरह ऋग्वेदके प्रारम्भमें आता है—

ऋग्वेदका प्रारंभ

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ॥
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥

इस मन्त्रके प्रारम्भमें " अग्नि " पद है और इस अग्नि पदका प्रारंभ ' अ ' अक्षरसे होता है, । यही ' अ ' अक्षर ओंकारमें भी पहिला अक्षर है ।

अकारका महत्त्व

अकारका संस्कृतभाषामें क्या, पर जगत्की सभी भाषाओंमें बड़ा ऊंचा स्थान है । अकारका जितना प्रयोग हर एक भाषामें होता है; उतना प्रयोग किसी अन्य अक्षरका नहीं होता । इस अकारसे ही भाषाके सभी अक्षर बनते हैं । मानो ' अ ' कारने सब भाषाओंके सभी अक्षरोंके रूप धारण करके सब भाषाएँ बना दी हैं । मानो ' अ ' कार ही सभी भाषाओंमें व्याप्त हुआ है। इसी मंत्रमें देखिये- अ (आ) १४, इ (ई) ४, उ १, ऋ १, ए २ और ओ २ बार आगये हैं । अन्य अक्षर इसी तरह अकारकी अपेक्षासे बहुत कम बार आगये हैं । इस तरह अकारका प्रयोग भाषाओंमें अधिक है । जिस तरह ब्रह्म सब विश्व-रूपमें व्याप्त है अतः ' विश्वरूप ' कहा जाता है, उसी तरह यह ' अ ' कार भाषाके सब शब्दोंमें व्याप्त है । इसी लिए ओंकारमें यह अक्षर प्रथम स्थानमें रहा है और ऋग्वेदका भी इसी अक्षरसे प्रारम्भ हुआ है । अर्थात् ऋग्वेदमें भी अकार ही प्रथमाक्षर है ।

ओंकार

ओंकार प्रत्येक मंत्रके प्रारम्भमें बोला जाता है । यह ओंकार अत्यन्त पवित्र तथा बड़ा उपयोगी उपदेश देता है । ओंकारमें " अ-उ-म् " ये तीन अक्षर हैं । ' अ ' ऋग्वेदके प्रारम्भमें है । ' उ ' यजुर्वेदके मध्य (वा० य० २०।९०के अन्त) में है, तथा ' म् ' सामवेद (गानग्रन्थों) के अन्तमें है । इस तरह तीनों वेदोंसे ये तीन अक्षर लेकर ओंकार बना है । ऐसा वर्णन उपनिषदोंमें आया है और वह सत्य है ।

ओंकारका ' अ ' कार मुखके कण्ठस्थानमें प्रारम्भमें ही उत्पन्न होनेवाला अक्षर है । कण्ठमें इसके नीचेके स्थानमें किसी अन्य अक्षरकी उत्पत्ति होती नहीं है । इसलिए ' अ ' आदिम या प्रथम अक्षर है । इसलिए यह अकार सब भाषाओंका आदि वा प्रारम्भ है । ' उ ' कारका मुखमें अन्तिम स्थानमें उच्चारण होता है । मुखसे उकारके स्थानसे बाहरके स्थानमें किसी अन्य अक्षरका उच्चारण नहीं हो सकता । इसलिए उकारको अन्त्य अक्षर कहते हैं । अकार और उकारके मध्यमें नाना प्रकारके अक्षर उच्चारे जाते हैं, और वे सब अक्षर ' अ ' और ' उ ' के बीचमें समाविष्ट होते हैं । इसीलिए भाषाका आदि ' अ ' कार और अन्त्य ' उ ' कार, इन आदि अन्त्योंके ग्रहण करनेसे बीचके सभी अक्षरोंका ग्रहण हो जाता है ।

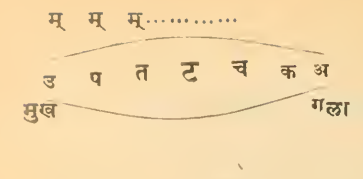

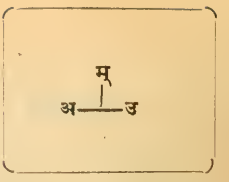

इसलिए अ-उ-के ग्रहणसे सब भाषाओंके संपूर्ण सारवत्ताका ग्रहण हुआ। अब मकारके उच्चारणके स्थानका विचार ही शेष रहा है, इस मकारका स्थान नासिका है। नासिका स्थानका उच्चारण मुख बन्द करके भी होता है और चाहे तो खुला मुख रख कर भी होता है। ओंकारके उच्चारणोंमें मकार है जो ओंकार के अन्तमें शामिल किया है। अ-उ-म् इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीन वेदोंका ग्रहण होता है। अतः ओंकार संपूर्ण वेदका संक्षिप्त रूप है।

वेदके लक्षण

जिन मन्त्रोंकी पाद व्यवस्था होती है, वे ऋग्वेद मंत्र हैं। जब ये मन्त्र ताल स्वरमें आलापोंके साथ गाये जाते हैं तब वेही साम कहलाते हैं। साम शब्दमें 'सा-अम' ये दो पद हैं। 'सा' का अर्थ ऋचा और 'अम' का अर्थ आलाप है, इसलिये सामका अर्थ पादबद्ध मन्त्रोंका गान ऐसा है। और जो गद्य मन्त्र होते हैं, उनका नाम यजुः है। ओंकारसे वे तीनों वेद बताये गये हैं। ऋग्वेदमें नाना देवताओंके मिषसे आदर्श दिव्य पुरुषका गुण वर्णन किया गया है। यजुर्वेदमें प्रशस्त कर्म करनेका उपदेश है और सामगानसे उद्विग्न हुए मनको शान्ति प्राप्त होती है। ओंकारके 'अ' अक्षरका भाव, अकार सब अक्षरोंमें आदि होनेके कारण, "आदि होना वा प्रथम बनना" है। 'उ' अक्षर अन्तिम श्रेष्ठ अवस्थाको प्राप्त करनेका बोध करता है। और 'म' अक्षर माननीय होनेकी सूचना देता है। अर्थात्—

१ अ- आदि होना, प्रथम होना,
२ उ- उत्तम होना, श्रेष्ठ बनना,
३ म्- माननीय होना, सन्मानके योग्य होना,

ये तीन अक्षर मनुष्यको ये तीन उपदेश देते हैं कि (१) तुम सबमें प्रथम बनो, (२) सबमें श्रेष्ठ बनो और (३) सबके सन्मानके योग्य बनो। इन तीनों उपदेशोंका सामूहिक नाम ओंकार है। ओम्की व्युत्पत्ति 'अवति इति 'ओम्' अर्थात् जो संरक्षण करता है वही 'ओम्' है। संरक्षणमें आदि, उत्तम और माननीय होना सम्मिलित है। इसीलिए ओंकार मन्त्रोंके प्रारम्भमें बोला जाता है। मन्त्रका उपदेश ऐसा श्रेष्ठ बननेकी साधना बताता है।

अब देखिये, अपने आजके मननके लिए हमने लिये हुए प्रथम मन्त्रका प्रारम्भ अकारसे हुआ है; यह अकार बताता है कि साधकोंको प्रथम स्थान प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए अपनी जातिमें प्रथम बनना चाहिये, अग्रणी बनना चाहिये। यह बात इस मंत्रमें किस तरह बतायी है वह देखिए।

प्रकट अर्थ और गुह्य अर्थ

मन्त्रके प्रारम्भमें 'अग्निं ईडे' ये दो पद हैं। "मैं अग्निकी स्तुति करता हूँ" यह इन दो पदोंका प्रकट अर्थ है। वेदके मन्त्रोंमें एक प्रकट अर्थ होता है और दूसरा गुप्त वा गुह्य अर्थ होता है। यह गुह्य अर्थ मनन करनेसे व्यक्त होता है। यही अर्थ मुख्य और साधकको उन्नतिका सरल मार्ग बतानेवाला है।

मनन करनेके लिये मन्त्र

'मन्त्र' उसका नाम है जो मनन करनेका विषय होता है। 'मननात् मन्त्रः' मनन करनेके पद समुदायको मन्त्र कहते हैं।

मनन करनेके लिये ही मन्त्र होनेके कारण बिना मनन किये उनसे लाभ नहीं हो सकता। जो लोग केवल मन्त्र पाठ करते हैं और केवल प्रकट अर्थको ही देखते हैं; उनको वेद-मन्त्रोंसे वह लाभ नहीं हो सकता, कि जो मनन करनेसे होता है।

ऋषि, देवता, छन्द

मनन करनेके समय ऋषि, देवता और छन्द देखना चाहिए। इस सूक्तका ऋषि 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' है। देवता 'अग्नि' और छन्द 'गायत्री' है। मधुच्छन्दा विश्वामित्रका पुत्र है। 'विश्वामित्रः सर्वमित्रः' जो सबके साथ मित्रताका व्यवहार करता है, उसका नाम विश्वामित्र है। इसका पुत्र मधुच्छन्दा है। मधुरिमाका विश्वमें अनुभव करनेका जिसको उत्तम छन्द या व्यसन है। सर्वमित्रको ही ऐसी उत्तम सन्तान हो सकती है। सबके साथ मित्रता करना, मित्रकी दृष्टिसे सबकी ओर देखना और सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त मधुरिमाका साक्षात्कार करना, इस ऋषिका स्वभाव है। इस मन्त्रका छन्द गायत्री है। जो "गायन्तं त्रायते" गान करनेवालेका संरक्षण करती है वह गायत्री है। इस मन्त्रका मननपूर्वक गुह्य अर्थ देखकर, उसके अनुसार आचरण करनेवालेका निःसन्देह संरक्षण होगा। यह इस मन्त्रके मनन करनेका महत्व है। इसी लिए हम इस मन्त्रका मनन करते हैं।

अग्निं ईडे

"अग्निं ईडे" इन दो पदोंमें 'ईडे' पदका अर्थ स्तुति करता हूँ, वर्णन करता हूँ, प्रशंसा करता हूँ, सत्कार करता हूँ, आदर करता हूँ ऐसा है। जिसका आदर करना है, वह आदरणीय वस्तु 'अग्नि' पदसे बतायी है। "ज्वलिष्यामि अहं-इति-अग्निः दध्रे" मैं जलता रहूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा अग्निने उत्पन्न होते ही की, ऐसा वर्णन ऐतरेय उपनिषदमें किया है। स्वयं जलना और विश्वको प्रकाश देना यह अग्निका स्वभाव है।

आत्मसमर्पणका आदर्श

विश्वमें प्रकाश फैलानेके लिए, विश्वके अज्ञान अन्धकारको दूर करनेके लिए, यह अग्नि स्वयं जलता रहता है, विश्वकल्याणके लिए अपनी पूर्णाहुति देता है। इस कारण अग्नि पूर्ण त्यागका, आत्मसमर्पणका प्रतीक है। यह जब तक जीवित रहेगा, तबतक जलता ही रहेगा। यह आत्मसमर्पण करता ही रहेगा, अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक आत्मसमर्पण करके विश्वकी सेवा करनेके लिए प्रकाश देता ही रहेगा। लोग इसके प्रकाशका उपयोग करें वा न करें, पर यह अपने प्रकाशसे विश्वभरमें उजाला फैलानेका कार्य करता ही रहेगा। यह आत्म-यज्ञ करनेका उत्तम आदर्श है।

उच्चगतिसे प्रगति करना

यहाँ अग्निका एक और गुण विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य है। "अग्नेः ऊर्ध्व-ज्वलनं" अर्थात् अग्नि जलता रहता है वह ऊर्ध्व दिशासे जलता है, उसकी ज्वालाएँ ऊर्ध्व दिशासे उपर जाती हैं, कभी नीचेकी ओर नहीं जाती। अपने जीवनके अन्तिम क्षण तक इसकी ज्योति उच्च गतिसे ही जायगी, कभी नीचेकी अवस्थामें नहीं जायगी। यह उच्च दिशासे ही अपनी प्रगति करता है, नीच अवस्थामें जाता ही नहीं। "अगति गच्छति इति अग्निः" जो गतिमान है, जो स्वभावसे उच्च दिशाकी प्रगति करता और कराता है, वह अग्नि है। जो उच्चदिशासे जाता है, वही नेता सन्मानके योग्य है। जो अधोगतिको पहुंचानेवाला है, वह सन्मानको किस तरह प्राप्त हो सकेगा यह अग्निका स्वभावधर्म उसकी प्रशंसा कराता है।

अपने प्रकाशसे मार्गदर्शन

प्रकाश देनेवाला अपने प्रकाशसे विश्वको मार्ग बताता है। कितने मार्ग हैं और उनमें कौनसा मार्ग उत्तम है और किस मार्गमें कंटक, पत्थर, गढे वा हिंसक पशु नहीं हैं? किस मार्गमें भय नहीं है और कौनसा मार्ग सरल है? इसका ज्ञान प्रकाश रहनेसे ही हो सकता है। इस तरह अपने प्रकाशसे विश्वको 'मार्ग दर्शन' करना यह अग्निका गुण हमें विदित हुआ।

अग्रणी

जो अपने प्रकाशसे मार्गदर्शन करता है, वही अन्तिम प्राप्तव्य स्थान तक ले जाता है। इसीलिए अग्निकी व्युत्पत्ति निरुक्तकार ऐसी मानते हैं- "अग्रे—नी, अग्रेनी, अग्रणी, अग्-रनी, अग्-नी, अग्नि" अर्थात् अग्रणी ही अग्नि कहलाता है। लोग भाषामें अग्रणी नेताको कहते हैं। नेता भी अन्तिम प्राप्तव्य स्थान तक अनुयायियोंको ले जानेवालेका नाम है। अपने प्रकाशसे नेता अपने अनुयायियोंको मार्ग बतावे, प्राप्तव्य स्थान प्राप्त होनेतक बीचमें ही न छो

*

निःसन्देह प्राप्तव्य स्थानको प्रमाद रहित रीतिसे पहुँचावे, वही अग्रणी है और वही अग्नि है। मानो अग्रणीका संक्षिप्त नाम ही अग्नि है।

इतने विवरणसे इस बातका पता लगा कि—

(१) जो प्रकाश देता है, (२) जो आत्म समर्पण करता है, (३) मार्ग बताता है, (४) जो अन्तिम उच्च अवस्था तक अनुयायियोंको पहुँचाता है, (५) जो बीचमें अधूरी अवस्थामें अनुयायियोंको नहीं छोडता, (६) जो प्रमाद नहीं करता, और (७) जो उच्च दिशामें प्रगति करता और करवाता है। उस अग्रणीकी मैं प्रशंसा करता हूँ, उसका मैं आदर करता हूँ. उसीकी मैं स्तुति करता हूँ। यह ' अग्निं ईडे ' का रहस्य-पूर्ण अर्थ इस समय तक किये मननसे प्राप्त हुआ।

सन्मानके अयोग्य

अब अर्थापत्तिसे इसके विरुद्ध जो होगा, वह सन्मानके योग्य नहीं होगा। अर्थात् (१) जो प्रकाशसे मार्ग नहीं बतायेगा, (२) जो अज्ञान वा भ्रान्त विचार फैलावेगा, (३) जो अयोग्य नीच मार्गसे ले जायगा, (४) अन्तिम सिद्धि तक न पहुँचावे हुए अनुयायियोंको जो बीचमें ही छोड देगा, इस तरह पूर्वोक्त शुभ गुणोंके विरुद्ध जो अशुभ गुणवाला होगा, वह आदरणीय बनने योग्य नहीं है।

पूर्ण हित करनेवाला

' अग्निं ईडे ' इस वेद वचनके मननसे यह बोध प्राप्त हुआ। इसके बाद अग्निका विशेषण ' पुरोहितं ' आया है ' पुरोहितं ' का अर्थ (पुरः हितं) ' पुरस्तात् हितं ' अर्थात् अपने समीप रखा हुआ, समीप रहकर हित करनेवाला, अथवा पूर्ण रीतिसे हित करनेवाला ऐसा होता है। यह पूर्वोक्त अग्रणी रूप अग्नि समीप रहकर हित करनेवाला अथवा पूर्ण रीतिसे हित करनेवाला है। यह अग्रणी प्रकाश बता कर अनुयायियोंको सन्मार्गसे ले जाकर पूर्ण अन्तिम उच्च अवस्था तक पहुँचानेवाला, निःसन्देह सिद्धि तक पहुँचानेवाला होता है। अर्थात् जो पूर्ण हित करनेवाला न हो और समीपस्थ भी न हो, परन्तु अहित करनेवाला हो वह आदरके योग्य नहीं है। " पुरोहितं अग्निं ईडे " इसका अर्थ यह हुआ कि " पूर्ण हित करनेवाले अन्तिम पूर्ण अवस्था तक पहुँचानेके लिए मार्ग बतानेवाले अग्रणी नेताका हम सत्कार करते हैं। " जो इसके विपरीत होगा वह हमारे आदरके योग्य नहीं होगा।

सत्कार-संगठन-दानरूप यज्ञ

इसके पश्चात् मन्त्रके पद " यज्ञस्य देवं " ये हैं। ' देव ' शब्दका अर्थ प्रकाश करनेवाला, दाता, उत्तम व्यवहार चलानेवाला और तेजस्वी ऐसा है। यज्ञ वह सत्कर्म है कि इसमें पूजनीयोंके सत्कार होते हैं। आपस की संघटना की जाती है और निर्बलोंको सहायता दीजाती है। ये सत्कार, संगठन, दानरूप त्रिविध कर्म यज्ञके होते हैं। " यज् देवपूजा--संगतिकरण-दानेषु " इस धातुसे यज्ञ पद बनता है। यज्ञमें ये तीन शुभ कर्म अवश्य होने चाहिए। यह अग्नि ऐसे शुभ कर्मोंका प्रकाशक है, दर्शक है, बतानेवाला है। यहाँ पूर्वोक्त अग्निके गुणोंमें और तीन गुण सम्मिलित हुए हैं। अग्रणी पूजनीय विद्वुधोंका सत्कार करे, अनुयायियोंमें संगति अर्थात् संगठन का बल बढावे और निर्बलोंको, उनकी आवश्यक शक्ति प्रदान कर, बलवान बनावे। निर्बलता चार प्रकारकी होती है। (१) ज्ञानके अभावके कारण होनेवाली निर्बलता, (२) शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि क्षात्र गुणोंके अभावके कारण होनेवाली अशक्तता, (३) धन, कृषि, वाणिज्य आदिके न होनेसे बननेवाली आर्थिक निर्बलता, (४) और चौथी निर्बलता वह है कि जो शिल्पके अभावसे होती है। इनमेंसे एक एक निर्बलता व्यक्तिका और राष्ट्रका घात करनेवाली है। फिर जहाँ चारों निर्बलताएँ हों वहाँ कितना अनर्थ होगा, इसका ज्ञान विचार करनेवाले लोग प्राप्त कर सकते हैं। यज्ञमें जो दान है वह इन निर्बलताओंको दूर करनेके लिए है। इस तरहके यज्ञोंका प्रकाशक यह अग्रणी देव है। अर्थात् इन शुभ प्रशस्त कर्मोंको करनेवाला है और इन कर्मोंके द्वारा लोगोंका सुख बढानेवाला है। इस तरहके कर्म करनेवाले अग्रणीका हम आदर करते हैं। इसके विरुद्ध वर्तन करनेवालेका हम आदर नहीं करते। यह मार्गदर्शन इन शब्दोंके अर्थ द्वारा हुआ है।

ऋतुओंके समय यज्ञ

इससे अगला पद " ऋत्विजं " है, यह अग्निका

विशेषण है " ऋतौ ऋतौ यजते, स ऋत्विक्, तं ऋत्विजं " जिस ऋतुमें जैसा यजन करना चाहिए वैसा जो यथा योग्य रीतिसे करता है, प्रमाद नहीं करता, वह ऋत्विक् कहलाता है। दो ऋतुओंकी संधिके समय जलवायुमें उष्णता और शीतलतामें परिवर्तन होता है। इस लिए ऋतु संधिमें व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इन व्याधियों के रोगबीज जलवायुमेंसे हटानेके लिए विशेष विशेष प्रकार के यज्ञ होते हैं। इस विषयमें गोपथ ब्राह्मणमें कहा है—

ऋतु संधिषु वै व्याधिर्जायते।
ऋतु संधिषु यज्ञाः क्रियन्ते ॥ गोपथ ब्राह्मण

अर्थात् ऋतु संधियोंमें रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनके निवारणार्थ ऋतुओंके सन्धि समयमें यज्ञ करने होते हैं। इस तरह ऋतु संधिमें कौनसे रोग होते हैं और उनके निवारणार्थ किस तरहका यज्ञ किस रीतिसे करना चाहिए। इस यज्ञशास्त्रका ज्ञान जिसको है, उसको ऋत्विक् कहते हैं। किन औषधियोंका प्रयोग यज्ञमें किस तरह करनेसे किस रोगका शमन होता है। इसका यथावत् ज्ञान ऋत्विक् को चाहिए। ऐसा ऋत्विक् ही अग्रणीरूप अग्नि है।

जो इस तरह योग्य ऋतुमें योग्य हवन करके रोग शमन करनेवाला होगा उसका हम आदर करेंगे और जिसमें इसका ज्ञान न होगा उसका हम समादर नहीं करेंगे, यह भाव " ऋत्विजं अग्निं ईडे " इन पदों का है।

दाता और आदाता

मन्त्रमें अगला अग्निका विशेषण " होतारम् " आया है। " होतारं " के तीन अर्थ हैं। दाता, आदाता और आह्वानकर्ता। दान देनेवाला, लेनेवाला और विबुधोंको बुलानेवाला। देवताओंको, ज्ञानियोंको, विबुधोंको, श्रेष्ठोंको अग्नि यज्ञमें बुलाता है। जो यज्ञ करता है उनको धन, यश और उच्च स्थान देता है। तथा अर्पण किये हुए वस्तुका स्वीकार भी करता है। ये तीन कार्य करनेवाला ' होता ' कहलाता है। यह अग्रणी इस तरहका ' होता ' है। जो योग्य वस्तुको लेता है, सत्पात्रमें दान करता है और विबुधोंको बुलाकर अपने पास यज्ञ स्थानमें सत्कार करके रखता है। उस अग्रणीका हम सन्मान करते हैं। यह तात्पर्य " होतारं अग्निं ईडे " इन तीन पदोंका है।

अर्थापत्तिसे इन्हीं पदोंसे यह बोध मिलता है कि जो सत्पात्रमें दान नहीं करता, अथवा कुपात्रमें दान करता है, जो योग्य वस्तुका स्वीकार नहीं करता, परन्तु अयोग्य वस्तुओंका संग्रह करता है। तथा जो विबुधोंको अपने पास नहीं लाता, परन्तु दुष्टों दुर्जनों वा आततायियों को अपने पास रखता है, इसका किसी को आदर नहीं करना चाहिए।

रत्नोंका धारण करनेवाला

मन्त्रका अन्तिम पद " रत्नधातमं " है। " रत्नानि धारयति इति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः रत्नधातमः तं रत्नधातमं " अर्थात्-जो अपने अनुयायियोंको रत्नोंका अथवा रमणीय पदार्थोंका प्रदान करता है और उनसे उनका धारण करवाता है। अथवा अनुयायियोंके सुन्दर वस्त्र, प्रावरण आभूषणादिकोंके धारण करनेसे जो प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है वह नेता ' रत्नधातमं ' कहलाता है।

अर्थापत्तिसे जो अपने अनुयायिओंको विपत्तिमें रखता है, वह आदरणीय नहीं है। यहाँ इतने विवरणसे प्रथम मन्त्रका रहस्य अर्थ और अर्थापत्तिसे निकलनेवाला भाव समझमें आया।

यहाँ तक जो प्रथम मन्त्रका मनन हुआ उसका संक्षिप्त भाव नीचेकी तालिकामें हम देते हैं।

प्रथम मन्त्रकी बोधदर्शक तालिका

मन्त्रके पद	अर्थ-बोध	अर्थापत्तिसे विरोधी भाव
१– पुरोहितः	१ समीपस्थित ।	१ दूरस्थित ।
	२ सम्पूर्ण हित करनेवाला।	२ अहित करनेवाला, घातक ।
२– यज्ञस्य देवः	३ सत्कार संगठन दानरूप कार्यका का प्रकाशक ।	३ द्रोह, विघटना, लूट आदि उपद्रव करनेवाला ।
३– ऋत्विज्	४ ऋतुके अनुसार हवन करनेवाला ।	४ ऋतुके विरुद्ध कार्य करनेवाला ।
४– होता	५ ज्ञान धनादिका दाता ।	५ कञ्जूस, दान न देनेवाला ।
	६ (सद्भावोंका) स्वीकर्ता ।	६ असद्भाव पास रखनेवाला ।
	७ विबुधोंको अपने साथ लानेवाला ।	७ दुष्टोंको अपने साथ रखनेवाला ।
५– रत्नधातमः	८ अनुयायिओंको रत्नोंका धारण करानेवाला ।	८ अनुयायियोंको विपत्तिमें रखनेवाला ।
६– अग्निः	९ स्वयं जलकर विश्वको प्रकाश देनेवाला ।	९ अज्ञान अन्धकारका फैलाव करनेवाला ।
	१० सन्मार्ग बतानेवाला ।	१० बुरे मार्गसे ले जानेवाला ।
	११ अनुयायियोंको उच्चस्थान तक पहुँचानेवाला ।	११ अनुयायियोंको गिरानेवाला ।
	१२ उच्चदिशामें प्रगति करनेवाला।	१२ हीन अवस्थाको पहुँचानेवाला।
	१३ उच्च प्रगति करनेवाला, अन्तिम उच्च अवस्था तक पहुँचानेवाला ।	१३ बीचमें ही छोड देनेवाला ।
७– ईडे	१४ ऐसे नेताका हम आदर करते हैं, यह नेता प्रशंसनीय है, वर्णनीय है ।	१४ ऐसे घातकका हम कभी आदर नहीं करेंगे, यह निन्दनीय है।

इस मन्त्रके मननसे मनुष्यको उन्नत होनेके लिये किस तरह पना आचरण करना चाहिए, इसका बोध मिलता है। हाँ अग्नि देव मनुष्यके सामने आदर्श विभूति करके रखा या है । मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बने, दूसरों- को ज्ञान देकर ज्ञानी बनावे, स्वयं सन्मार्गसे चले और दूसरोंको सन्मार्गसे चलावे । स्वयं उच्च आदर्श पर चले और दूसरोंको उच्च आदर्श पर चलावे । स्वयं तेजस्वी बने और अनुयायियोंको तेजस्वी बनावे । लोगोंको मार्ग

दर्शन करके उनको उच्च अवस्थामें ले जाना अपना कर्तव्य समझे इत्यादि ऊपर दिए हुए अग्नि देवताके गुण अपने अन्दर धारण करनेका यत्न करे। जो इन गुणोंको पूर्ण रीति से अपने अन्दर ढालेगा और इन गुणोंसे पूर्ण होगा, वही सर्वश्रेष्ठ वन्दनीय नेता बनेगा इसमें सन्देह नहीं।

इस मन्त्रका मनन करनेवाले साधक पूर्वोक्त अग्नि पदके सर्व विशेषणोंसे बोधित होनेवाले शुभ गुणोंको अपने अन्दर किस तरह ढाल सकते हैं, इसका अपनी परिस्थितिके अनुसार विचार करें और उन शुभ गुणोंको अपने अन्दर ढालनेका यत्न करें।

अग्नि नाम चूल्हेमें जलनेवाले अग्निका प्रसिद्ध है। परन्तु यहाँका अग्नि शब्द केवल आगका ही बोधक नहीं है। इसी मन्त्रमें "पुरोहित, ऋत्विज्, होता" ये शब्द यज्ञ कर्ता ऋत्विजोंके वाचक हैं। ये साक्षात् आगके वाचक नहीं हो सकते, इसलिए इस मन्त्रके अग्नि पदका भाव केवल आगकी अपेक्षा कुछ विशेष है। देखिये यजुर्वेदमें एक मन्त्र है...

प्रजापति अग्नि है

तदेवाग्निः, तदादित्यः, तद्वायुः, तदुचन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, ता आपः, स प्रजापतिः॥
यजुर्वेद अ० ३२

इस मन्त्रमें तच्छब्दसे अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, अर्थात् वीर्य, ब्रह्म, आप् अर्थात् जल और प्रजापति अर्थात् प्रजापालक राजा इनका बोध होता है। यहाँका 'तत्' शब्द जो एक अद्वितीय सद्वस्तु है, जिसको परमात्मा, परमब्रह्म तथा सत्य कहते हैं; उसका वाचक है। अर्थात् यहाँका अग्नि शब्द परमात्माका वाचक है, वैसा ही प्रजापति अर्थात् राजाका भी वाचक है। इस विषयमें निम्न लिखित मन्त्र देखनेके योग्य है—

एक सत्के अनेक नाम

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः
स सुपर्णो गरुत्मान्॥ एकं सद्विप्रा बहुधा
वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० १।१६४।४६

एक ही सत् वस्तु है, उसको ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा कह हैं। अर्थात् अग्नि शब्द एक सद्वस्तुका-परमात्माव वाचक है। इस तरह यहाँका अग्नि शब्द परमात्मा, प्रज पालक राजाका वाचक समझना योग्य है। और ऐसे अ लेकर अग्निके मन्त्रोंका मनन करना चाहिये।

परमात्मा और जीव आत्मा

जितने नाम परमात्माके हैं, उतने नाम जीव आत्मा भी होते हैं। जीव परमात्माका अमृत पुत्र है। "अमृ तस्य पुत्राः" ऐसा वेद मन्त्रमें कहा है। गीतामें भी—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

ईश्वरका ही अंश जीव हुआ है। यहाँ महासागर औ एक जलबिन्दु, सूर्य और एक किरण, अग्नि-दाव नल और एक चिनगारी ऐसा वर्णन परमात्मा और जीव त्माका उपनिषदोंमें आता है। इस कारण परमात्माके स नाम जीवके भी नाम होते हैं। अतः 'अग्नि' पदका अर्थ 'परमेश्वर' पूर्व स्थानमें कहा है, वैसा ही पूर्वोक्त कारणसे 'जीव-आत्मा' यह भी अर्थ लेना योग्य है। इस तरह 'अग्नि' पदके अर्थ (१) परमात्मा (२) जीवात्मा (३) प्रजापालक प्रजापति, राजा तथा शासक इतने हुए। परमात्मा विश्वका अग्रणी, नेता, समीपस्थित, पूर्ण हित करनेवाला, ऋतुके अनुसार यजन करनेवाला, सत्कर्मका प्रका शक, दाता अदाता, विद्वुधोंको आह्वान करनेवाला, बुलाने वाला, सब रमणीय पदार्थोंका धारण करने और करानेवाला है जीवके शरीरमें जो इन्द्रिय हैं वे बडे रमणीय हैं, सुन्दर हैं, वे रत्नोंसे भी अधिक मूल्यवान हैं। इन अमूल्य अव यवोंका धारण उसने कराया है। इस तरह परमात्मा वाचक भाव इस मंत्रका है। इसी तरह जीव वाचक भी अर्थ इसीसे स्पष्ट होता है।

शरीरधारी मनुष्य अपने अन्दर विद्याका तेज बढावे अज्ञानियोंको मार्गदर्शन करे, उनको शुभ मार्गसे ले जावे उच्च अवस्था तक पहुँचावे, शुभ कर्म स्वयं करे और दूस रोंसे करावे, ऋतुओंके अनुकूल अपना व्यवहार करे, अप अनुयायियोंको सहायता देवे और उनको रत्न देक उन्नत करे।

राजा भी प्रजाको उन्नत करे, सन्मार्गसे ले जावे, ऋ समयमें यज्ञ कराके राष्ट्रका आरोग्य बढावे और प्रजाक

आर्थिक स्थितिका सुधार करे, सब प्रजा रत्न-धारी बने ऐसी राष्ट्रकी सुस्थिति सुधार कर उन्नत करे।

नरका नारायण

इस तरह अनेक प्रकारसे बोध इस मन्त्रसे मिलता है। जो विचार पूर्वक मन्त्रके पदोंका मनन करनेसे प्राप्त हो सकता है। साधक मनुष्य इस अर्थको अपने जीवनमें ढालनेका यत्न करे। नरका नारायण बनेगा, जीवका शिव बनेगा। नर की अन्तिम अवस्था नारायण भाव प्राप्त करने की है। इसलिए नारायणके, परमात्माके, परमेश्वरके गुणोंका वर्णन मन्त्रोंमें किया है। यह परमात्माके गुणोंका वर्णन इसलिये किया है, कि इन गुणोंको मनुष्य अपने अन्दर ढाले और ब्राह्मी स्थिति, नारायण भाव, परमात्म भाव प्राप्त करे। मन्त्रका वर्णन इस तरह साधकका मार्ग दर्शन करता है। आगे—

आग्निःपूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवानेह वक्षति ॥ २ ॥

इस द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि 'ऐसे अग्रणी अग्निकी प्रशंसा प्राचीन ऋषि करते रहे और अर्वाचीन ऋषि भी करते हैं।' अर्थात् भविष्यमें होनेवाले ऋषि भी ऐसे अग्रणीकी प्रशंसा निःसन्देह गायेंगे। क्यों नहीं गायेंगे? "जो तेजस्वी है, जो दूसरोंको सन्मार्ग बताता है और अन्तिम उच्च अवस्था तक पहुँचाता है, सत्कार-संगति-दानात्मक प्रशंसित कर्म करता और कराता है; ऋतुके अनुसार यज्ञ करके आरोग्य बढाता है, दान देता है, शुभ पदार्थोंका संग्रह करता है, सज्जनोंको अपने साथ रखता है, और अपने अनुयायियोंको रत्नादि रमणीय वस्तुओंको पहनाता है, उनकी सांपत्तिक स्थिति अधिक उन्नत करता है।" ऐसे श्रेष्ठ नेता, राजा या मनुष्यकी भूत कालके, वर्तमान कालके और भविष्य कालके सब कवि ज्ञानी लोग प्रशंसा गाते हैं। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि ऐसे श्रेष्ठ नेताकी चारों ओर प्रशंसा होगी ही। जो इन शुभ गुणोंसे प्रकाशित होगा, उसकी सब कवि सदा प्रशंसा करेंगे ही।

विबुधोंकी संगतिमें रहना।

'स देवान् इह आवक्षति' ऐसा द्वितीय मन्त्रका अन्तिम वचन है। यह अग्नि स्वरूपी अग्रणी अनेक विबुधोंको अपने साथ लाता है। उनको आदरसे स्थानापन्न करता है। नेता, अग्रणी, राजा अथवा शासकके ये कर्तव्य ही हैं। शासक ऐसा ही अपने शासन क्षेत्रमें करे। विबुधोंकी परिषद रूपी यज्ञको सफल बनावे।

आगे तृतीय मन्त्र ऐसा है—

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

(अग्निना रयिं अश्नवत्) अग्निसे धन प्राप्त होता है, (अग्निना दिवे दिवे पोषं एव अश्नवत्) प्रति दिन पुष्टी भी अग्निसे मिलती है और (अग्निना वीरवत्तमं यशसं अश्नवत्) जिसके साथ वीर रहते हैं, ऐसा यश भी इससे प्राप्त होता है।"

धन, पोषण और यश

धन, पोषण, और वीरोंसे युक्त यश इनकी प्राप्ति अग्निसे, अग्रणी नेताकी आयोजनासे, होती है। रयिका अर्थ धन, ऐश्वर्य, शोभा, वैभव कान्ति आदि है, पोषका अर्थ पुष्टी, पोषण, शक्ति संवर्धन, बलका संवर्धन, संगठन, सब प्रकारकी बलकी वृद्धि है। और वीरोंसे युक्त यश भी प्राप्त होता है। यशका अर्थ कीर्ति, नामकी प्रसिद्धी है। यहा 'वीरवत्तमं यशसं' ये शब्द हैं। अत्यन्त वीरोंसे युक्त यश मिलता है। 'वीर' का अर्थ औरस 'पुत्र' सन्तान और शूर वीर' है। जो यश मिले वह औरस शूर पुत्रोंके साथ मिले। नहीं तो घरमें धन है, यश भी चारों दिशाओंमें फैला है, हृष्ट पुष्टता भी जैसी चाहिए वैसी है, पर घरमें सन्तान नहीं, बाल बच्चे नहीं, औरस पुत्र नहीं। अथवा पुत्र भी रहे, तो वे निर्बल, रोगी, डरपोक, निर्बुद्धि, अनाडी, व्यवहार-शून्य, दुर्बुद्धि, ऐसे हों तो वे क्या कामके? इसलिए मन्त्रमें कहा है कि 'वीर वत्-तम यश' मिलना चाहिये। अत्यन्त प्रखर वीर भावसे युक्त पुत्रपौत्र घरमें रहें। सन्तान अपने कुलकी, धनकी, बलकी और यशकी सुरक्षा करनेमें समर्थ हों। सबल, प्रभावी, समर्थ, नीरोग, धैर्यवान्, सुबुद्ध, ज्ञान विज्ञान सम्पन्न, व्यवहारमें चतुर, सुबुद्धि युक्त, कर्ममें कुशल ऐसे सुपुत्र घरमें हों और धन यश और पोषण भी मिले। तब सच्चा आनन्द होगा।

इस मन्त्रमें 'रयि, पोष, यश,' यह क्रम है। यह क्रम भी मनन करने योग्य है। प्रथम धन प्राप्त हो। धन प्राप्त होनेपर उसका उपयोग अपना पोषण होनेके कार्योंमें होता रहे। पोषणमें अपने व्यक्तिका पोषण और यह व्यक्ति जिस समाजका अंग है, उस समाजका भी पोषण होना चाहिए। क्योंकि व्यक्ति समाजपुरुषका अंग है और अङ्गने अङ्गीकी सेवाके लिए योग्य समर्पण करना ही चाहिए। यही यज्ञ है। इस तरह प्राप्त धनका उपयोग व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रका पोषण होनेके लिए करना चाहिए।

केवल धन नहीं

किसी किसी समय धन प्राप्त होनेपर, वे धनी नाना प्रकारके दुष्ट व्यसनोंमें, स्त्री मद्यपान-जुआ आदि दुष्ट व्यसनोंमें उस धनका दुरुपयोग करते हैं और स्वयं नष्ट होते हैं, और अपने समाजको भी नष्ट करते हैं। ऐसा न हो और धनका उपयोग व्यक्ति और समाजके पोषणमें ही होता रहे, बिगाडमें धन न लगे, यह उत्तम सूचना यहाँ दी है। 'रयि-पोष' इनका यह सम्बन्ध बहुत मननीय है। धनसे पोषण ही होना चाहिए। पुष्टी, बलकी वृद्धि ही होनी चाहिए, इसके विपरीत परिणाम नहीं होना चाहिए। यह महत्त्वकी बात इस 'धन-पुष्टी' के क्रमसे ध्यानमें आती है।

केवल धन और केवल पोषण भी नहीं

अब और देखिये कि धन मिला और पुष्टि होकर बल भी बढा, तो भी भय है। धन और बल इन दोनोंका मेल होनेके बाद भी दुष्ट व्यसन लोग करते हैं और मरते हैं। कौरवों और रावणके पास धन भी था और वे सब दुष्ट अच्छी तरह हृष्ट पुष्ट भी थे। उनमें कोई कृश और दुर्बल था ही नहीं। पर उनका क्या बना? वे सब विनष्ट हुए। इतिहास बता रहा है कि केवल 'रयि, पोष' धन और पुष्टता होनेसे मनुष्य उन्नत नहीं हो सकता। उन्नतिके ये साधन हैं इसमें सन्देह नहीं है; पर केवल ये ही धन और बल रहे, तो मनुष्य असन्मार्ग से जाकर नष्ट भ्रष्ट भी हो सकता है। इसलिए आगे मन्त्रमें कहा है कि "वीरवत्तमं यशसं" अत्यन्त प्रभावी वीरता जिसके साथ रहती है, ऐसा सुयश भी मिलना चाहिये। दुष्ट दुर्व्यसनोंमें फंसनेवाले धनिकों और हृष्ट पुष्ट मनुष्योंको यह सुयश नहीं मिल सकता। और यश मिला भी तो वीरोंके साथ, वीर सुपुत्रोंके साथ रहनेवाला सुयश तो दुष्टोंको प्राप्त हो ही नहीं सकता। इसलिए धनिकोंको चाहिए कि वे अपना धन बढावें, उसका उपयोग व्यक्ति और समाजका पोषण करनेमें और बल बढानेमें करें और वीर पुरुषों और प्रभावी सुपुत्रोंके साथ रहनेवाला यश भी प्राप्त करें। यह उत्तम कार्यक्रम इस मन्त्रने दिया है।

आगे चतुर्थ मन्त्र कहता है-

अग्ने यं अध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

'हे अग्ने! तू (यं अ-ध्वरं) जिस हिंसारहित यज्ञकी (विश्वतः परिभूः असि) चारों ओरसे सुरक्षा करता है, (सः इत् देवेषु गच्छति) वही निःसंदेह देवोंतक पहुंचता है।'

हिंसा रहित कर्म

इस मन्त्रमें "अग्नि हिंसा रहित कर्मकी चारों ओरसे सुरक्षा करता है," ऐसा कहा है। 'अ-ध्वर' शब्द इस दृष्टीसे महत्त्वपूर्ण है। 'ध्वरा हिंसा, तद्भावः अध्वरः' ध्वराका अर्थ है 'हिंसा, कुटिलता, टेढी चाल, कपट, घात पात'। जिस कर्ममें ये दुष्ट भाव नहीं होते उसका नाम अध्वर है। यज्ञका यह नाम है। पूर्व स्थानमें हमने यज्ञके तीन भाव देखे हैं, "(१) पूजनीयोंका सत्कार, (२) संगठन या संगतिकरण, और (३) निर्बलोंकी सहायता।" यज्ञमें ये तीन लक्षण होने चाहिये। जहां यह त्रिविध कर्म होता है वही यज्ञ कहलाता है। इनमें (-) "हिंसा और कुटिलताका न होना" भी और एक भाव संमिलित है, ऐसा समझना चाहिये।

इस तरहसे हिंसा कुटिलता क्रूरता रहित, सत्कार संगति दानमय उत्तम कर्मकी सुरक्षा अग्नि करता है, यह भाव "अध्वरं विश्वतः परिभूः असि" इन पदोंका है। जहां सत्कारके योग्य सज्जनोंका आदर होता है, जनताकी संघटना जिससे होती है, निर्बलोंको शक्तिका प्रदान जिसमें होता है तथा जिसमें हिंसा, कुटिलता, छलकपट, क्रूरता नहीं रहती, वह यज्ञ है और इसका संरक्षण अग्रणीको करना

चाहिये। इस कर्ममें किसी भी कारण अयोग्य दुष्टोंका समादर नहीं होना चाहिये, समाजकी विघटना नहीं होनी चाहिये, समाजकी निर्बलता नहीं बढनी चाहिये और हिंसा क्रूरता छल कपट आदि नहीं होने चाहिये। ऐसे दुष्ट कर्मोंका संरक्षण नहीं होना चाहिये। अग्नि देव ऐसे दुष्ट कर्मोंका और ऐसे दुष्ट कर्म करनेवालोंका संरक्षण नहीं करता, यह बतानेके लिये ही "अध्वरं परिभूः आसि" ऐसे पद मंत्रोंमें रखे हैं और कहा है कि कुटिलता छल कपट रहित शुभ कर्मोंका ही संरक्षण अग्रणीको करना चाहिये।

राष्ट्रीय शासन

राष्ट्रका शासक, प्रजाओंका पालक प्रजापति अपने राष्ट्रमें किन कर्मोंकी सुरक्षा करे, और किन कर्मोंको संरक्षण न दे, इसका ज्ञान भी इससे मिलता है। राष्ट्रमें सज्जनोंका संरक्षण हो, संघटना शक्ति बढे, अज्ञानियोंको ज्ञान मिले, निर्बल बलवान बनें, निर्धन धनी बनें, शिल्पी बढें, सब जनताका व्यवहार कुटिलता, क्रूरता, हिंसासे रहित हो, इस तरहके कर्मोंको राष्ट्रशासनमें उत्तेजना मिलनी चाहिये। इसके विपरीतके कुकर्म राष्ट्रमें होने नहीं चाहिये, यदि कोई करे तो उसको प्रतिबंध करना चाहिये, यह भाव इस मन्त्रभागका है।

'अध्वरः देवेषु गच्छति' हिंसा रहित कर्म ही देवोंतक पहुंचता है, देवोंको पसंद होता है, विबुध ऐसे कर्मकी ही प्रशंसा करते हैं। जो कर्म राक्षसोंको ही पसंद होंगे, वैसे कर्म करने नहीं चाहिये।

आगे पञ्चम मन्त्र यह है—

अग्निर्होता कवि क्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥

"यह (अग्निः) अग्नि रूप अग्रणी (होता) दाता, (कविक्रतुः) ज्ञानी और कर्म करनेवाला पुरुषार्थी, (सत्यः) सत्यव्यवहार करनेवाला, (चित्र-श्रवस्-तमः) अत्यंत अद्भुत यशसे युक्त (देवः) दिव्य विबुध (देवेभिः आगमत्) अपने साथ दिव्य विबुधोंको लेकर यहां आजावे।"

यहां अग्रणीके कुछ अधिक गुण बताये हैं-

(१) होता--दाता, स्वीकर्ता और विबुधोंको बुलानेवाला, (यह पद प्रथम मंत्रमें आया है।)

(२) कविः-क्रतुः— 'कविः=' ज्ञानी, दूरदर्शी, सूक्ष्मदर्शी, विद्वान्, अतीन्द्रिय पदार्थोंको, भावोंको, साक्षात् करनेवाला, 'क्रतुः'=कर्मशील, पुरुषार्थी, उद्यमी, कर्ममें कुशल।

(३) चित्रः-श्रवः—तमः- अत्यंत विलक्षण यश जिसको मिलता है, पूर्ण यशस्वी, कीर्तिमान्, जिसका सुयश चारों ओर गाया जाता है।

(४) देवः-- प्रकाशक, दाता, उदार, दिव्य गुणोंसे युक्त।

अग्रणीके, राष्ट्रशासकके, प्रजापालकके ये गुण इस मंत्रमें बताये हैं। पूर्व मंत्रोंमें जो गुण विदित हुए हैं, उनमें ये संमिलित करने चाहिये। राजा, राजपुरुष, राष्ट्रके शासन कर्ममें नियुक्त होनेवाले पुरुष इन गुणोंसे युक्त हों। शासक दाता, ज्ञानियोंको लानेवाला, ज्ञानी, दूरदर्शी, कर्मकर्ता, उद्यमी, यशस्वी, दिव्यगुणोंका प्रकाशक हो। शासन कार्यके लिये ऐसे गुणी पुरुष ही नियुक्त किये जांय।

इससे अगला छठा मंत्र यह है।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

"हे (अंगिरः अंग अग्ने) अंगीय रसवत् प्रिय अग्ने! (दाशुषे यत् भद्रं त्वं करिष्यसि) दाताका जो कल्याण तू करता है, (तत् तव इत् सत्यं) वह तेरा ही सच्चा कार्य है। दाताका कल्याण करना ही तुम्हारा सत्य कार्य है। प्रजापालक अपने राज्यमें उदार, दाता, जनताका उपकार करनेवाले जो हों, उनका कल्याण हो, वे सुरक्षित हों, उनको कोई उपद्रव न दें, ऐसा प्रबंध करें। अग्निदेव इन दाता यज्ञकर्ताका ही कल्याण करता है, वैसा ही अग्रणी करे, प्रजापति-प्रजापालक राजा भी वैसा ही करे। प्रत्येक मनुष्य ऐसा ही करे। 'यत् देवा अकुर्वन्, तत् करवाणि' (शतपथ) जो देवता करते हैं, वैसा मैं करूंगा और देवत्वको प्राप्त होऊंगा। देवताओंका वर्णन इसीलिये किया जाता है कि, मनुष्य अपना आचरण वैसा करे

और श्रेष्ठ बनता जाय। राक्षसों, असुरोंका इतिहास इस-लिये दिया होता है कि, कोई मनुष्य राक्षसोंके समान दुराचरण न करे और अवनत न हो। यह साधकोंके लिये उत्तम मार्गदर्शन है।

सत्कर्म करनेवालेका संरक्षण होगा, उसका कल्याण होगा, उसको प्रतिबंध नहीं होगा। यह शासककी नीति होनी चाहिये। यह भाव इस मन्त्रसे प्रकट हो रहा है।

अंगरसकी विद्या

यहां 'अङ्गिरस्' पद है वह 'अंग-रस्' का बोधक है। शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवन रस होता है, उसका नाम 'अंग-रस्' है। सबका जीवन इस अंगीय रस पर अवलंबित है, इस कारण सबको यह अंगरस प्रिय है। इस मंत्रके 'अंगिरः अंग' ये पद इस अर्थके बोधक हैं। अंगिरस् ऋषिने अग्निकी सिद्धता सबसे प्रथम की, इसलिये अग्निको अंगिरा कहते हैं, ऐसा भी कहते हैं। परंतु 'आंगिरसी विद्या' आंगिरस ऋषियोंके पास थी, जिससे वे अंगीय रसमें योग्य परिवर्तन करा कर आरोग्यका साधन करते थे, यह भी प्रसिद्ध बात है। इसलिये अंग-रसकी विद्या बडी महत्त्वकी विद्या है। इस विद्याका संबंध अग्निसे है, जब तक शरीरमें उष्णता रहती है, तब तक ही अंगीय रस शरीरभर घूमता है, और शारीरिक अग्नि शान्त हुआ, शरीर ठंडा पड गया, तो वह अंगरस भी जहांका वहां सूख जाता है, यही मनुष्यका मृत्यु है। यह भाव 'अंगिरः, अंग' ये पद बता रहे हैं।

"आंगिराः अंगः भद्रं करिष्यति" अंगीय रस जो प्रत्येक अंग अंगमें व्याप्त है, वह मनुष्यका कल्याण करेगा, इस मंत्र भागका यह आशय है, जो मनुष्यको आरोग्य-दायक होनेका सूचक है। अब सप्तम मन्त्र देखिये—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

"हे अग्ने! (वयं धिया) हम सब बुद्धिपूर्वक (दिवे दिवे दोषावस्तः) प्रतिदिन रातमें और दिनमें (नमः भरन्तः) अन्न तथा प्रणाम अर्पण करते हुए (त्वा आ उप इमसि) तुम्हारे पास आते हैं, तुम्हारी उपासना करते हैं, तुम्हारे समीप रहते हैं।"

प्रतिदिन सवेरे और शामको अग्निकी उपासना करनी चाहिये, अग्निमें हवन करना चाहिये, उसमें अन्न समर्पण करना चाहिये। सवेरे और शामको अग्निहोत्र करना चाहिये। 'नम' का अर्थ अन्न और नमन है, शस्त्र ऐसा भी इसका अर्थ है, पर वह यहां उपयोगी नहीं है।

जो मार्ग बताता है, उसको प्रतिदिन सवेरे और शामको अर्थात् दिनमें दो वार अन्न देना चाहिये। जो संरक्षण करता है, जो सहाय्य करता है, उसको प्रतिदिन कमसेकम दो वार अन्न मिलना चाहिये। यह बोध यहां मिलता है। मनुष्यको दिन भरमें दो वार अन्न सेवन करना चाहिये, यह यहांके वचनसे स्पष्ट हो जाता है। अब अष्टम मन्त्र देखिये—

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

"(अध्वराणां राजन्तं) हिंसा रहित कर्मोंका प्रकाशक, (ऋतस्य गोपां) सत्यके संरक्षक, (दीदिविं) दिव्य प्रकाशक और (स्वे दमे वर्धमानं) अपने स्थानमें बढनेवालेके पास प्रतिदिन हम जाते हैं।"

इस मंत्रका अर्थ करनेके समय पूर्व मंत्रसे "दिवे दिवे वयं त्वां उप आ इमसि" ये पद लेने चाहिये। वैसे पद लेकर ऊपरका अर्थ किया है।

जिसके कर्ममें हिंसा, कुटिलता, क्रूरता, छलकपट, टेढापन आदि दुष्ट भाव नहीं हैं, अर्थात् जो कल्याणकारक शुभ कर्मोंको ही सब जनताके हितार्थ करता है, जो सत्य मार्गका पालन करता है, जो सरलतासे अपने व्यवहार करता है, ऋजुता जिसके जीवनमें है, जो अज्ञान दूर करके ज्ञानका प्रकाश करता है और जो अपने घरमें बढता है, घर, नगर, स्वदेशके स्वक्षेत्रमें जो बढता है, जो अपने क्षेत्रकी वृद्धि करता है, उसके साथ हम प्रतिदिन रहते हैं। इसके विपरीत जो कुटिल आचरण करता है, जिसमें सरलता नहीं है, जो अज्ञान, मिथ्या ज्ञान, भ्रम फैलाता है, जो सदा दूसरेके घरमें रहकर उसको बढाता है, जो शत्रुका बल बढाता है, उसके पास हम कभी नहीं जायंगे। यह अष्टम मंत्रका विचार हुआ। अब नवम मंत्र देखिये—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

" हे अग्ने ! (सः) वह तू (सूनवे पिता इव) पुत्रको जैसा पिता सहज प्राप्त होता है, वैसा (नः सूपायनः भव) हमें सुगमतासे प्राप्त हो जाओ और (नः स्वस्तये सचस्व) हमारे कल्याणके लिये हमारे साथ रह ॥ "

पिता पुत्रका संबंध

पुत्र पिताको सुगमतासे प्राप्त होता है, और पिता पुत्रको सहज ही से प्राप्त होता है । पिता पुत्रका यह संबंध है । ऐसा ही संबंध पिता पुत्रमें रहना चाहिये । अथर्व वेदमें कहा है–

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
अथर्ववेद

' भाई भाईका द्वेष न करे, बहन बहनका द्वेष न करे, भाई बहन तथा बहन भाईका द्वेष न करे, ये मिलजुलकर एक कार्य करते रहें, और आपसमें कल्याण कारक भाषण बोलते हुए आनन्दसे रहें । ' यह वैदिक घर है । घरमें ऐसी एकता चाहिये । घर, नगर, ग्राम, जाती तथा राष्ट्रमें इसी तरहकी एक वाक्यता चाहिये । पिता पुत्रको जैसा प्राप्त होता है, (सूनवे पिता इव) इस उपमासे और भी भाव बताया है, वह भी देखिये । प्रजापति प्रजाको सुगमतासे प्राप्त होता रहे, अग्रणी अनुयायियोंको सहज प्राप्त होवे, राजा तथा राजपुरुष परस्पर सहज ही से मिल सकें, परस्पर वार्तालाप कर सकें, परस्परके सुख दुःख परस्परको बता सकें, ऐसी परिस्थिति रहनी चाहिये । पिता पुत्रके वर्णनसे यह परस्पर मेल मिलापकी स्थिति सूचित की गयी है । पिता पुत्रको सहजहीसे प्राप्त होता है, पुत्र पिताके साथ बोलता है, अपनी आवश्यकताका निवेदन करता है, अपने सुख दुःख, प्रिय अप्रिय, हानि लाभ आदिका वर्णन करता है, वैसा राजा जनता, प्रजापति प्रजा, अग्रणी अनुयायी, नेता और जनताका संबंध रहे यह सूचना इस मंत्रसे मिलती है ।

कल्याणपूर्ण जीवन

' नः स्वस्तये सचस्व ' हमारे कल्याणके लिये सहायक हो, हमारा कल्याण कर । ' स्वस्ति ' का अर्थ (सु+अस्ति) अपना उत्तम अस्तित्व, अपना उत्तम जीवन, अपना उत्तम रहनसहन, अपना आनन्दमय जीवन होना चाहिये । इस स्थितिकी प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये। यह सबके सामंजस्यसे ही हो सकता है, इसलिये इसी मंत्र भागमें कहा है कि ' स्वस्तये नः सचस्व ' हमारे कल्याणके लिये हमें संघटित कर । संघटनासे हमारा कल्याण हो ऐसी परिस्थिति निर्माण कर । नेतासे यह प्रार्थना है कि वह अनुयायियोंकी संघटना करके अनुयायियोंके कल्याण करनेकी आयोजना सिद्ध करे । जिससे अनुयायी सुसंघटित होकर अपने कल्याणका साधन करनेका यत्न करें और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करें ।

सूक्तका प्रारंभ और अन्त

इस ऋग्वेदके प्रथम सूक्तके प्रथम मन्त्रका प्रारंभ ' अग्निं ईडे ' (प्रकाशदेवकी उपासना) से हुआ है और अन्तिम मन्त्रका अन्त ' सचस्व नः स्वस्तये '(सिद्ध हो जाओ अपने कल्याणके लिये) ऐसा है । ' प्रकाशक ' से प्रारंभ और ' कल्याण ' में पर्यवसान इस सूक्तका हुआ है । सब लोग कल्याण (स्वस्ति) तो चाहते हैं, पर ' प्रकाश ' के मार्गपर रहनेके विना कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती । यह मुख्य बात साधकोंको ध्यानमें धारण करनी चाहिये । यदि कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा है, तब तो प्रकाश मार्गसे जाना चाहिये । जो अग्निकी उपासना करेगा, प्रकाशक देवका अनुसरण करेगा वह अन्तमें स्वस्तिको, कल्याण को, निःसंदेह प्राप्त करेगा ।

प्रत्येक मंत्रका उपदेश

१ प्रथम मन्त्र— (पुरोहितं अग्निं ईडे) पूर्ण हितकारी प्रकाशक देवकी उपासना,

२ द्वितीय मन्त्र— (पूर्वेभिः नूतनैः ऋषिभिः ईड्यः) प्राचीन अर्वाचीन ज्ञानी जिसकी उपासना करते हैं उसकी उपासना करना,

३ तृतीय मन्त्र— (रयिं पोषं वीरवत्तमं यशसं अश्ववत्) धन, पोषण और वीरतायुक्त यश प्राप्त करना,

४ चतुर्थ मन्त्र— (अध्वरं परिभूः) हिंसा कुटिलता रहित कर्मको करना,

५ पञ्चम मन्त्र— (कवि क्रतुः सत्यः श्रवस्तमः) ज्ञान, कर्म, और सत्यका आश्रय करके यश कमाना,

६ षष्ठ मन्त्र—(दाशुषे भद्रं) दाताका कल्याण होता है, यह सत्य नियम जानना,

७ सप्तम मन्त्र-- (दिवे दिवे दोषावस्तः नमो भरन्तः) प्रतिदिन दोबार हवन और अन्न समर्पण करना,

८ अष्टम मन्त्र— (राजन्तं अध्वराणां, ऋतस्य गोपां, स्वेदमे वर्धमानं) हिंसा रहित कर्म, ऋत मार्गका रक्षण, अपने घरमें संवर्धन, और प्रकाशसे मार्गदर्शन करना।

९ नवम मन्त्र-= (सूनवे पिता इव, सूपायनः, स्वस्तये सचस्व) पिता पुत्रको सहायक होता है वैसा अनुयायियोंको सहायक होना और संघटनासे सबका कल्याण करना।

इन नौ मंत्रोंका यह अतिसंक्षिप्त भाव है। इससे साधकके कल्याणका मार्ग साधकको अच्छी तरह दीख सकता है। व्यक्तिके तथा समाज वा राष्ट्रके कल्याणका सरल मार्ग यहां साधकोंके सन्मुख आगया है।

समुदायकी संघटना

यह सूक्त व्यक्ति और समुदायकी उन्नतिका मार्गदर्शन करता है। देखिये इस सूक्तमें शब्द-प्रयोग ऐसे हैं-

वयं नमो भरन्तः उप एमसि ॥ ७॥
स नः पितेव सूनवे सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

इनमें ' वयं, भरन्तः, नः, एमसि ' ये पद बहुवचनमें हैं। अतः हम सबका कल्याण, हम सबका स्वस्ति, हम सब मिलकर उपासना कर रहे हैं। यह एककी की हुई प्रार्थना नहीं है, समुदायका, जातीके हितका यहां संबंध स्पष्ट है। मिलकर सबके कल्याणकी साधना करनेका यहां सामुदायिक भाव है और यह महत्त्वका दृष्टिकोन है।

इस सूक्तका प्रारंभ ' अग्निं ईडे ' (मैं अग्निकी स्तुति करता हूं) इस एकवचनी प्रयोगसे हुआ है। मैं स्तुति करता हूं, यह प्रार्थना एक व्यक्ति करती है। परंतु इसी प्रथम मंत्रमें ' यज्ञ ' है। और यज्ञमें तो ' देव पूजा-संगति करण-दान ' होता है। और संगतिकरण तो अनेकोंकी संघटनासे ही हो सकता है। इसलिये प्रथम मन्त्रमें ही अनेक व्यक्तियों की संघटनाकी सूचना मिलती है।

द्वितीय मंत्रमें " पूर्वेभिः ऋषिभिः नूतनैः ईड्यः " प्राचीन और नवीन ऋषियों द्वारा प्रशंसित अग्निका वर्णन किया है। यहां अनेक ऋषि मिलकर स्तुति करते हैं, इससे यहां सामुदायिक प्रार्थना सूचित होती है। इसी मंत्रमें ' स देवान् इह आवक्षति ' (वह अनेक देवोंको यहां लाता है) ऐसा वर्णन है, अर्थात् यह ' अग्नि भी देवोंके संघके साथ रहनेवाला ' है। अकेला नहीं। उपासना करनेवाला भी ऋषि समुदाय और जिसकी उपासना करनी है, वह भी " दिव्य विबुधोंके समुदायके साथ विचरनेवाला " है अर्थात् अकेला नहीं। उपास्य भी समुदायमें विचरनेवाला और उसके उपासक भी सामुदायिक रीतिसे उपासना करनेवाले हैं। इससे यहां संघटना-की सूचना मिलती है।

चतुर्थ मन्त्रमें पुनः " सः इत् देवेषु गच्छति " अर्थात् हिंसा रहित कर्म सब देवोंके समुदायको प्राप्त होता है ऐसा कहा है। यहां भी देवोंके समुदायका सांघिक विचार है। हमारा यज्ञ देवोंके संघको प्रिय होना चाहिये। वही भाव पञ्चम मंत्रमें " देवो देवेभिः आगमत् " कहा है, अर्थात् ' यह अग्निदेव अनेक देवोंके साथ आता है। ' यह अकेला नहीं रहता, यह समुदायके साथ आता, समुदायके साथ यहां रहता और समुदायके साथ जाता है। समुदायके साथ हलचल करनेवाला यह है।

सप्तम और नवम मंत्रोंमें उपासकोंका समुदाय स्पष्ट दीखता है। अन्तिम ' नः स्वस्तये सचस्व ' हम सबके कल्याण के लिये समवेत हों। यह सामूहिक हितकी प्रार्थना है।

उपास्य देव भी देव समुदायमें रहता है और उपासक भी सबके कल्याणके लिये उपासना करता है। सामुदायिक हित, सामुदायिक कल्याण, सामुदायिक यशकी साधना करनी चाहिये। यह मनुष्यका ध्येय यहां स्पष्ट हुआ।

ऋत और सत्यका संरक्षण

' ऋत ' पद सत्य, सरलता, ऋजुताका भाव बताता है। ऋत और सत्य ये अटल नियम हैं। ऋत और सत्य पर सब विश्व ठहरा है। इसका रक्षण करनेवाला अग्निदेव है और उसकी प्रसन्नताके लिये उपासकोंको भी उन नियमों-का पालन करना चाहिये।

सूक्तसे बोध

इस सूक्तसे जो बोध प्राप्त होता है वह इतने विवरणसे स्पष्ट हुआ है। प्रथम मंत्रसे प्राप्त होनेवाला बोध हमने उस मन्त्रके विवरणके अन्तमें दिया है। शेष आठ मंत्रोंके बोधकी तालिका हम यहां देते हैं। पूर्व तालिकाके साथ इस तालिकाका साधक विचार करें—

मन्त्रके पद	अर्थ बोध	अर्थापत्तिसे विरोधी भाव
मं० २।१ पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः।	२।१ प्राचीनों और नवीनों द्वारा प्रशंसित होनेवाला ही आदरणीय है।	१ [1]जिसकी कोई प्रशंसा नहीं करते वह आदरणीय नहीं है।
२ स देवान् इह आवहति	२ वह अपने साथ विद्वुधोंको लाता है; अतः आदरणीय है।	२ जिसके साथ ज्ञानी नहीं होते वह आदरणीय नहीं है।
३।१ रयिं पोषं वीरवत्तमं यशसं अभवत्।	३।१ धन, पोषण और वीरोंके साथ रहनेवाला यश प्राप्त करता है वह आदरणीय है।	३।१ दारिद्र्य, निर्बलता और दुर्बलोंके कारण होनेवाली दुष्कीर्ति बढानेवाला आदरणीय नहीं है।
४।१ अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः।	४।१ हिंसारहित शुभ कर्मका संरक्षण करनेवाला सन्मा-ननीय है।	४।१ हिंसामय अशुभ कर्म करनेवाला सन्मानके अयोग्य है।
२ स देवेषु गच्छति।	४।२ ऐसे कर्म देवोंको प्राप्त होते हैं।	४।२ अशुभ कर्मोंसे राक्षस ही संतुष्ट होंगे।
५ कवि-क्रतुः सत्यः चित्र-श्रवस्तमः।	५ ज्ञानी कर्मकर्ता सत्यनिष्ठ यशस्वी होगा।	५ ज्ञानहीन आलसी असत्य आचरण करनेवाला कभी यश नहीं प्राप्त करेगा।
६ दाशुषे भद्रं करिष्यसि	६ दाताका कल्याण होगा।	६ दान न देनेवालेका कभी कल्याण नहीं होगा।
७ वयं त्वां नमोभरन्तः उपैमसि।	७ हम तुम्हारे पास अन्नका समर्पण करनेके लिये आते हैं। समर्पण करनेसे कल्याण होगा।	७ अपने लिये भोगना बुरा है।

८ अध्वराणां राजन्तं, ऋतस्य गोपां, स्वे, दमे वर्धमानं दीदिविं ।	८ हिंसारहित कर्म करो, ऋत का पालन करो, अपने घरमें बढो, प्रकाशमान बनो ।	८ हिंसा, असत्याचरण करनेवालेका नाश होगा । दूसरेके घरमें बढना ठीक नहीं, अन्धकारमें रहन हानिकारक है ।
९ सूनवे पिता इव सूपायनः भव ।	९ पुत्रको पिता जैसा प्राप्त होता है, वैसा जो नेता अनुयायियोंको प्राप्त होगा, वह आदरके योग्य है ।	९ जो पिता दुष्प्राप्य है वह आदरणीय नहीं हो सकता।

इस तरह संक्षेपसे इस सूक्तके उपदेश हैं । ये सब साधकोंको अपने जीवनमें ढालनेके लिये हैं । जो इस तरह मनन करके वेदके मंत्रोंमें बताये उपदेश अपने जीवनमें ढालेगा वह कल्याण प्राप्त करेगा ।

अग्नि देवता

इस सूक्तमें देवता अग्नि है और वह हवनका अग्नि ही है, परंतु ऋषि उस अग्निमें " आदरणीय नेताकी, आदर्श ज्ञानीकी विभूति " देखता है और वैसा वह वर्णन करता है । इसलिये अग्निके मन्त्रोंमें आदर्श नेताका वर्णन है, वह कैसा है यही मनन पूर्वक साधकोंको देखना चाहिये । जो देखेंगे उनको अनेक उत्तमोत्तम बोध मिलेंगे । और जो उनको अपने जीवनमें ढालेगा वह आदर्श पुरुष बनेगा, वही सबका साध्य है । यही सब साधकोंको प्राप्त करना चाहिये ।

प्रथम सूक्तका मनन समाप्त